

हिन्दी उपन्यास साहित्य में विस्थापन का संकट और पर्यावरणीय चेतना (विशेष सन्दर्भ : मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ)

आनन्द कुमार मिश्रा

शोध छात्र, हिन्दी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

आज मनुष्य विज्ञान, प्रौद्योगिकी और सूचना तकनीक के जरिए जिस तीव्रता के साथ लंबी और ऊँची छलांग लगाते हुए लगातार दूरियाँ तय कर रहा है और उसी अनुपात में प्रकृति के साथ छेड़ाछाड़ करते हुए जिन उपलब्धियों पर इतरा रहा है, वही विभीषिका और त्रासदी के रूप में कब उसके सामने आ जाए, वह नहीं जानता।

भूमंडलीकरण के दौर में तथाकथित विकास के नाम पर वनों की अंधाधुंध कटाई, नदियों की गति और दिशा में मनमाना परिवर्तन, औद्योगिकरण और शहरीकरण, खनिज उत्खनन के नाम पर प्रकृति का जरूरत से ज्यादा दोहन, जैव विविधता का क्रमिक ह्रास मनुष्य के सम्यक् होते चले जाने का बर्बर इतिहास है।

अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ प्रतियोगिता में हैं कि कौन कामगारों का सबसे अधिक शोषण और पर्यावरण को सबसे अधिक बर्बाद कर सकता है। विकास का अर्थ है पर्यावरण का विनाश और व्यक्ति का अमानवीकरण। आज एकरेखीय विकास से मोहविष्ट होकर मनुष्य जल, जंगल, जमीन को नष्ट करता जा रहा है। आदिवासी चिंतक बृजलाल के शब्दों में— "आसमान फटा जा रहा है और हुक्मरान थिगड़े लगाने की बात कर रहे हैं।"

तथाकथित विकास के नाम पर आज राजनेताओं और उद्योगपतियों के गठजोड़ ने जंगलों में रहने वाले आदिवासी समुदायों को विस्थापन का गहरा संकट झेलने पर मजबूर कर दिया है। जंगलों की अंधाधुंध कटाई, उत्खनन आदि से विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की समस्या बढ़ती ही जा रही है।

साहित्य चूंकि समय और समाज के साथ चलते हुए उन्नत भविष्य के सृजन का दूसरा नाम है। अतः जीवन और जगत की कोई भी समस्या/विडम्बना उसकी विषय-परिधि से बाहर नहीं।

परिस्थितिकीय संकट तथा आदिवासियों के विस्थापन की समस्या को लेकर पिछले डेढ़ दशक में कई महत्वपूर्ण उपन्यास हमारे सामने आये हैं जिनमें है—'मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ' (महुआ माझी, 2012), 'रह गई दिशाएँ इस पार' (संजीव, 2011), 'एक ब्रेक के बाद' (अलका सरावगी, 2008) तथा 'कठ गुलाब' (मृदुला गर्ग, 1996) जो हमें जंगलों में निवास करने वाली मानवता के साथ हो रहे अन्याय व उनकी अनसुलझी समस्याओं से रूबरू कराती है।

वर्तमान राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अनायास ही यह अधिकार दे दिया है कि विकास के नाम पर मदद हेतु वे तीसरी दुनिया में पाँव पसारें और फिर मूल निवासियों को ही वहाँ से खदेड़ दें। झारखंड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में खनन कंपनियों की लूट को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। रणेंद्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में विस्तार से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में उभरे नवऔपनिवेशिक साम्राज्य की सर्वभक्षी 'भूख' को चित्रित किया है।

यह उपन्यास तथाकथित आधुनिक समाज के विकास संबंधी मॉडल को नकारता एक विचारोत्तेजक आख्यान प्रस्तुत करता है। रणेंद्र इस रचना में झारखंड के असुर आदिवासी समुदाय की भयावह व्यथा-कथा को व्यक्त करते हुए 'आंतरिक उपनिवेशवाद की ओर

हमारा ध्यान खींचते हैं। मुख्यधारा के विद्रूपित सत्य को उद्घाटित करने वाली इस रचना में झारखंड के आदिवासियों के साथ-साथ छत्तीसगढ़ में शिवनाथ नदी के किनारे बसे बिकने, केरल की सी०के० जानू, महाराष्ट्र के कोंकण की सुरेखा दलवी, छिंदवाड़ा की दयाबाई, मध्यप्रदेश के रीवा जिले की दुवासिया देवी आदि की चर्चा करते हुए विमर्श के इस भूगोल को विस्तार देते हुए राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों के साथ हो रहे अन्याय और सत्ता के खूनी खेल की असलियत को स्पष्ट किया गया है। असुर आदिवासियों की अपराजेय श्रमशक्ति और जिजीविषा को दिखाते हुए रणेंद्र लिखते हैं— "अपने देवता सिंगबोंगा की तरह असुर आदिम जाति कभी नहीं थकती। आग में उत्पन्न लोहा पिघलाने और पिघला लोहा खाने वाले वे लोग खुद ही लोहा थे।"

आदिवासी जिन इलाकों में रहते हैं वो आमतौर पर बीहड़-सुदूर क्षेत्र हैं जहाँ खनिज बहुतायत में मिलते हैं। इस क्षेत्र की धरती के गर्भ में यूरेनियम बाक्साइट, लोहा और कोयला जैसे बहुमूल्य खनिज अटे पड़े हैं। पूंजी के ढेर पर बैठी ताकतों की दृष्टि इन खनिज संपदाओं की ओर लगातार लगी रहती है इसीलिए विकिरण के खतरे की अनदेखी करते हुए धड़ल्ले से यूरेनियम खनन हो रहा है और न्यूक्लियर प्लांट लगाए जा रहे हैं।

हिन्दी साहित्य में यूरेनियम विकिरण की समस्या को केन्द्र में रखकर रचा गया महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ' वाकई एक धमाकेदार सूचना के रूप में उपस्थित हुआ है। यह उपन्यास महुआ माजी के चार वर्ष के शोध-कार्य का परिणाम है। निःसन्देह एक खोजी पत्रकार और गंभीर शोधार्थी की तरह झारखंड के बीहड़ जंगलों और जापान-अमेरिका के परमाणु संयंत्रों का जायजा लेकर उन्होंने विषय से जुड़ी हर छोटी-बड़ी जरूरी जानकारी को संजोया है। समाजशास्त्री, मानवशास्त्रीय और पर्यावरणीय शोधपूर्ण समझ से लिखी गयी यह रचना झारखंड की यूरेनियम खादानों से निकलने वाले विकिरण, प्रदूषण और उसके बीच आदिवासियों के विस्थापन की पीड़ा को व्यक्त करती है। यूरेनियम के रेडिएशन और उससे उपजे स्वास्थ्य संबंधी दुष्प्रभावों ने पूरी दुनिया का ध्यान खींचा है। उपन्यास में विनाश के व्यापक खतरों की ओर संकेत करते हुए 'माजी' लिखते हैं कि— "परमाणु संयंत्रों में एक हजार मेगावाट बिजली पैदा करने से करीब 27 किलोग्राम रेडियोधर्मी कचरा उत्पन्न होता है और उसे निष्क्रिय होने में एक लाख साल से भी ज्यादा का वक्त लग सकता है।"

उपन्यास की कथा का आरम्भ सात सौ पहाड़ियों के जंगल में रहने वाले 'हो' आदिवासियों के प्रतिनिधि 'जाम्बीरा' से होता है। जाम्बीरा की पीढ़ी जंगल और प्रकृति के साथ अपना जीवन व्यतीत करते आए थे परन्तु बाहरी लोगों के आगमन और खोजों के बाद उनका जीवन पूर्णरूप से बदल गया। उनके भोलेपन के कारण वह निकट आते संकट को भांप न सके और उस भयावह संकट का अनजाने में ही शिकार होते रहे। उन्हें बहुत देर से इस खतरे का पता चलता है जब विकिरण और प्रदूषण से अत्यधिक आदिवासी प्रभावित हो चुके होते हैं। मरंग गोड़ा में लौह खदान से यूरेनियम खदान तक शामिल हैं और स्वाभाविक ही इसके कारण विकिरण और

प्रदूषण की समस्या बढ़ती चली गयी। असल में यह केवल मरंग गोड़ा के आदिवासियों की समस्या नहीं है अपितु पूरी दुनिया में जहाँ-जहाँ यूरेनियम खदानें हैं, घूमकर तो देखें। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिका.... हर जगह के आदिवासी किसी न किसी रूप में पीड़ित हैं। यह एक विडम्बना ही है कि अधिकतर यूरेनियम खदानें, परमाणु रियेक्टर या परमाणु कचरा फेंके जाने वाले टेलिंगडैम आदिवासी इलाकों में ही होते हैं।”

मरंग गोड़ा वस्तुतः जमशेदपुर से तीस-चालीस किलोमीटर दूर स्थित 'जादूगोड़ा' नामक वह कस्बा है जहाँ सन् 1967 में शुरू हुए यूरेनियम खनन से आसपास के पंद्रह गाँवों के तीस हजार से अधिक लोग बुरी तरह विकिरण से प्रभावित हुए थे। जो जमीन रेडियाधर्मी धातु यूरेनियम के जहर को पीकर देश-दुनिया को ऊर्जा प्रदान कर रही है, वह यही आबादी है जो नीलकण्ठ हुई है। लेखिका रेडिएशन से होने वाली बीमारियों की ही सूचना नहीं देना चाहती, वरन तिथियों में बंधे इन ग्लोबल तथ्यों को भी पाठक तक संप्रेषित करना चाहती है- '1546 से जर्मनी के स्वीबर्ग में खनन मजदूरों की मौत फेफड़े की रहस्यमयी बीमारी से हो रही थी। 1879 में जाकर पता चला कि उनमें से अधिकतर मौतें फेफड़े के कैंसर के कारण हुईं और 1897 में वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया कि यूरेनियम खनिज रेडियोधर्मी होता है। (पृ 185-86) महुआ माजी सगेन के नेतृत्व में खड़े किए गए मोआर (मरंग गोड़ाज ऑर्गेनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन) का जिक्र करती है, लेकिन मुख्यतः इसलिए कि इससे जुड़े फिल्मकार-पत्रकार आदित्य श्री की मरंग गोड़ा रेडिएशन पर केंद्रित फिल्म को जापान में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण फिल्म फेस्टिवल में शामिल किया जा सके और इस प्रक्रिया में पूरे विश्वभर में तेजी से फैली रही न्यूक्लियर विरोधी आवाजों को रिकार्ड किया जा सके। इस श्रृंखला में उनके लिए यूरोप के ग्रीन मूवमेंट से जुड़े बुद्धिजीवियों की विश्वविख्यात संस्था 'ग्रीनपीस' की उपलब्धियों को गिनाना, 1986 में रूस के यूक्रेन में घटित चेरनोबिल परमाणु संयंत्र दुर्घटना और 2011 में जापान में फुकुशिमा परमाणु संयंत्र दुर्घटना का वर्णन करना सरल हो जाता है। तब किसी भी औसत जिज्ञासु की तरह इन दुर्घटनाओं के आलोक में उन्हें यह सवाल उठाना बेहद जरूरी लगता है कि-

“जब परमाणु संयंत्र इतने खतरनाक हैं, तब किसी दुर्घटना की बात न जोहकर इन्हें बंद क्यों नहीं कर दिया जाता?” महुआ माजी इन्हीं और इन्हीं जैसे अनेक महत्वपूर्ण सवालों को उठाती हुई अन्य सूचनाएँ इकट्ठा करती हैं। वे जान चुकी हैं कि “अंतर्राष्ट्रीय मापदंडों के अनुसार किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए एक साल में अधिकतम एकमिली सिवर्ट (mSv/y) तक ही विकिरण की मात्रा को सुरक्षित सीमा के अंदर माना गया है।” (पृ 228) लेकिन पाती हैं कि अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा मानकों को धता बताकर गाँव के बिल्कुल पास 50 फुट से भी कम दूरी पर टैलिंग डैम बना लिए जाते हैं और इस कचरे में से बीनकर रेडियो एक्टिव पत्थरों को घर की दीवारों पर भी लगा लेते हैं साधनहीन गरीब ग्रामवासी। माजी ने इस उपन्यास के जरिए सगेन के रूप में युवा पीढ़ी के प्रतिरोध और अक्रोश को भी दिखाया है। आर्थिक तंगी के बावजूद अपने ताऊ की मदद से सगेन स्नातक तक की पढ़ाई पूरी करता है और आदिवासी समुदाय की पर्यावरणीय समस्याओं को जानने लायक बनता है। जापान के परमाणु वैज्ञानिक प्रोफेसर बोयदे जब मरंग गोड़ा आकर जाँच करते हैं तो पाते हैं कि वहाँ हवा में गामा किरणों की मात्रा अनुमन्य सीमा से दस गुना ज्यादा है। आदिवासियों के हितों को दरकिनार कर मरंग गोड़ा की धरती से जो यूरेनियम निकाला जा रहा है वह चारों ओर जहर फैला रहा है। सगेन ऐसे बुद्धिजीवियों का विरोध करता है जो महानगरों में विकिरण पर हाय-तौबा मचाते हैं लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में इस भीषण संकट को देखने के बजाए अपनी आँखें मूंद लेते हैं। उपन्यास के अंतिम अध्यायों में विकास के

वैकल्पिक मॉडल की बेहद सारगर्भित चर्चाएँ समाहित की गई हैं। मोआर अनुरोध करता है कि- “यूरेनियम को धरती के भीतर ही पड़े रहने दो। उसे मत छोड़ो वरना सांप की तरह वह हम सबको डस लेगा।” (पृ 402)

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों में न केवल आदिवासियों के विस्थापन और पर्यावरण पर गहराते संकट की ओर हमारा ध्यान खिंचा गया है वरन् विकास के पूंजीवादी मॉडल की गंभीर विसंगतियों को भी पूरी विश्वसनीयता, तटस्थता से विश्लेषित किया गया है। जंगलों की अंधाधुंध कटाई, उत्खनन व उत्सर्जन द्वारा बढ़ रहे प्रदूषण की वजह से आदिम मानव का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है क्योंकि जिस प्रकार पानी के बिना मछली का कोई अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार जंगलों के बिना आदिम मानव का अस्तित्व न के बराबर है। नई परिस्थितिकीय सभ्यता वैज्ञानिक प्रगति या तकनीकी विकास की विरोधी नहीं, बस इनके अंधाधुंध दुष्प्रयोगों की विरोधी है।

सन्दर्भ सूची

1. महुआ माजी, मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
2. जनसत्ता, 24 अगस्त, 2016
3. http://www.opnimaati.com/2014/05/blog-post_1640.
4. http://godyakosh.org/gk/index.php?title=समकालीन_हिन्दी_उपन्यास_और_परिस्थितिकीय_संकट_/_रोहिणी_अग्रवालp;fof=28054.